वैध सामाजिक विज्ञान अनुशासनगत समझ और शिक्षाशास्त्र

राघवेन्द्र प्रपन्न

यह विस्तृत लेख एक विशेष योजना- सन् 2000 एवं 2005 में निर्मित राष्ट्रीय पाठ्यचर्या में इतिहास शिक्षण की दृष्टि और इन पर आधारित इतिहास की पाठ्यपुस्तकों के तुलनात्मक अध्ययन के तहत लिखवाया गया था। इस लेख का एक हिस्सा इतिहास शिक्षण विशेषांक में प्रकाशित हो चुका है। यह दूसरा और अन्तिम हिस्सा है। राघवेन्द्र प्रपन्न अपने इस सुदीर्घ लेख में दोनों पाठ्यचर्याओं और दोनों के तहत निर्मित पाठ्यपुस्तकों इतिहास दृष्टि और शिक्षाशास्त्र के आधारभूत फर्कों को सामने रखते हुए बताते हैं कि 2005 की राष्ट्रीय पाठ्यचर्या और इसके आधार पर निर्मित पाठ्यपुस्तकें इतिहास दृष्टि एवं शिक्षाशास्त्रीय मानदण्डों पर काफी आगे हैं।

लेखक परिचय : दिल्ली विश्वविद्यालय के केन्द्रीय शिक्षा संस्थान से शिक्षा में एम.ए., एम.फिल. एवं पी.एच.डी.। संप्रति : दिल्ली विश्वविद्यालय के महर्षि वाल्मिकी कॉलेज ऑफ एज्युकेशन में प्राध्यापक।

सम्पर्क : 6/54, विजय नगर डबल स्टोरी, संत कृपाल आश्रम के पास, दिल्ली-110009

सन् 2005 में नई पाठ्यचर्या (एनसीईआरटी निर्मित) का आगमन हुआ है। यह पाठ्यचर्या भी आते ही सहमति-असहमति, विरोध एवं आरोप-प्रत्यारोपों में घिर गई। पर इस बार जो भी बहस-मुबाहिसा इस बावत चल रहा है वह पाठ्यचर्या पर ही अपने पूर्ववर्ती बहसों से भिन्न गुणात्मक प्रकृति वाला है। इस बार पाठ्यचर्या विचारधारात्मक ध्रुवीकरण में नहीं फंसी जिसमें सन् 2000 की पाठ्यचर्या की बहस जा धंसी थी। गौरतलब है कि सन् 2005 की पाठ्यचर्या से सहमत एवं असहमत होने वाले दोनों ही तरह के लोग एक हद तक इस बात पर जूझ रहे हैं कि स्कूली ज्ञान की प्रक्रिया में सीखने वाले के संबंध में बुनियादी स्थापना क्या है और क्या होना चाहिए ? शिक्षार्थियों के भौतिक सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवेश के साथ क्या बर्ताव किया जाना चाहिए ? अनुशासन एवं शिक्षणशास्त्र के बीच रिश्ता क्या है ? जहां तक सीखने वालों के संबंध में बुनियादी स्थापना का मुद्दा है तो उसमें सन् 2005 की पाठ्यचर्या का कहना है कि हम यह मानें कि शिक्षार्थी में सीखने की संभावना है। वह ज्ञान का निष्क्रिय नहीं बल्कि सक्रिय सह-रचनाकार (स्कूली शिक्षा में शिक्षक उसका सहभागी है) है। वह न तो खाली स्लेट होता है और न ही कच्चा घड़ा बल्कि वह स्कूल के अहाते में एक बुद्धिमत्ता के साथ ही प्रवेश करता है जिसके पास चीजों को समझने की क्षमता (सीमित ही सही) होती है एवं उन्हें एक हद तक व्यक्त करने की भाषिक दक्षता भी। सीखने-सिखाने की प्रक्रिया में एक शिक्षार्थी अपने तरीके से चीजों के साथ गूंथता है और ज्ञान का अपने तरह से संस्करण निकालता है। शिक्षाशास्त्रीय दर्शन के तौर पर यह दस्तावेज मानता है कि शिक्षार्थी जिस भौतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवेश में जी रहा होता है उसे इंकार करके नहीं चला जा सकता। दूसरी तरफ इस दस्तावेज की आलोचना में कहा जा रहा है कि स्थानीय ज्ञान पर जिस कदर जोर दिया जा रहा है उससे यह आशंका बनती है कि वैज्ञानिक ज्ञान को दरकिनार करके स्थानीय ज्ञान की परिधि में ही स्कूली ज्ञान की संपूर्ण प्रक्रिया को निपटा दिया जाए। इसकी आलोचना में यह भी कहा जा रहा है कि शिक्षण पर अधिक बल देने से अनुशासनगत समझ की उपेक्षा हो जाएगी। साथ ही साथ बौद्धिक ज्ञान की जगह यह पाठ्यचर्या उत्तर-आधुनिकतावादी किस्म के ज्ञान का पक्ष ले रही है जो विज्ञान के सार्वभौमिक ज्ञान को उपेक्षित कर देता है। आलोचना में आगे यह कहा जा रहा है कि बच्चे के वैयक्तिक विकास पर जोर देकर इस पाठ्यचर्या ने यह साबित कर दिया है कि उसकी राह नव-उदारवादी तथा उत्तर-आधुनिकता से प्रेरित है। इस दस्तावेज पर यह भी आरोप है कि इसमें जानकारी को सबसे ज्यादा धिक्कारा गया है जो कि ठीक नहीं है (हबीब, अगस्त 2005)। एक आलोचना यह भी है कि सन् 2005 की पाठ्यचर्या का दर्शन सृजनात्मकतावाद (कन्स्ट्रक्टीविज्म) से प्रेरित है। हालांकि इसे दुनिया भर में प्रगतिशील

शिक्षणशास्त्र के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त है। इस आलोचना का मानना है कि ज्ञान निर्माण निश्चित तौर पर महत्त्वपूर्ण उपागम है और उसे होना चाहिए, खासकर पूर्व शिक्षा एवं प्रारंभिक शिक्षा में (यहां तक कि उच्च शिक्षा में भी)। पर हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि संग्रहित मानव अनुभव, ज्ञान एवं आलोचनात्मक शिक्षणशास्त्र के बगैर इस उपागम को एक उपागम की तरह पेश नहीं करना चाहिए (सद्गोपाल, अगस्त 2005)।



अमीन (सितम्बर, 2005) ने राष्ट्रवादी विचारधारा से लदी पाठ्यपुस्तक लेखन की उस धारा की आलोचना की है जिसमें इस बात की गुंजाइश नहीं छोड़ी जाती जिसमें बच्चे अपने आसपास या नजदीक की दुनिया की कोई समझ बना सकें। उन्होंने अपने लेख में इतिहास लेखन के उस नजरिए पर कटाक्ष किया है जिसमें हर समय इतिहास को एक राष्ट्रवादी अथवा राष्ट्रभक्ति से देखने की हठ होती है। इस कटाक्ष के क्रम में उन्होंने एक बिम्ब भी गढ़ा है जिसमें कहा गया है कि मानविकी वाले बच्चे साल की खास समयावधि में प्राक्-इतिहास काल से संबंधित सवालों के भी राष्ट्रवादी उत्तर रटने में लगे होते हैं। उनका मानना है कि इस प्रकार के राष्ट्रवादी अथवा राष्ट्रभक्ति वाले आख्यान में शिक्षाशास्त्र के सवालों को दरकिनार कर दिया जाता है। इसके साथ ही उस स्थानीय इतिहास को भी उपेक्षित कर दिया जाता है जिसमें कि एक शिक्षार्थी जी रहा होता है। ऐसे में स्वाभाविक तौर पर स्थानीय इतिहास के साथ वह कोई संवाद नहीं कर पाता है। किसी भी कीमत पर राष्ट्रीय धागा पकड़ने की फिराक में लगा इतिहास लेखन बच्चों द्वारा अपनाए जाने वाले उन तौर-तरीकों से बेखबर हो जाता है जिसके सहारे वे अपने आसपास की चीजों के मायने गढ़ते हैं। यह किस प्रकार होता है। इसको देखने के लिए उन्होंने दिल्ली स्थिति अब्दुल रहीम खान-ए-खाना के मकबरे का उदाहरण लिया है। उनका कहना है कि एक तरफ तो शिक्षार्थी स्कूली किताबों में अकबर के नवरत्न के रूप में इनके बारे में पढ़ते हैं, उनके द्वारा रचित पद्यों को पढ़ते हैं। उदाहरण के लिए- *करत-करत अभ्यास, जड़मति होत सुजान। रसरी आवत जात ते सिलचर परत निशान।*

एक तरफ दोहा पढ़ते हैं और दूसरी तरफ इस बात से अंजान हैं कि निजामुद्दीन रेल्वे स्टेशन जाने के रास्ते में उनका मकबरा पड़ता है। वह किस हालत में है ? उसके साथ क्या सलूक हुआ है ? वे इन सब बातों से बेखबर रहते हैं। अमीन दूसरा उदाहरण पटपड़गंज का लेते हैं। पटपड़गंज वह ऐतिहासिक जगह है जहां लॉड लेक की जीत के साथ ही मुगलों के भाग्य पर तालाबंदी हो गई। पर बच्चे इस ऐतिहासिक तथ्य से अनभिज्ञ हैं। जगह के नाम का अर्थ खोलते हुए अमीन कहते हैं कि पटपड़ शब्द यहां की नमी बरकरार रखने वाली जमीन की प्रकृति के लिए है और गंज उस बाजार के लिए जो यमुना पुश्ता पर लगा करता था। इसीलिए इस जगह का नाम इन दोनों ही स्थानीय विशिष्टता को अभिव्यंजित करने वाले शब्द को आधार बनाकर दिया गया है। पर शिक्षार्थी इस बात को जानते ही नहीं। तर्क की इस कड़ी को आगे बढ़ाते हुए स्थानीय इतिहास से बेखबरी का दूसरा उदाहरण अमीन के दूसरे लेख (मई, 2005) से लिया जा सकता है। वह उदाहरण है दिल्ली विश्वविद्यालय की भौगोलिक चौहद्दी का जिसमें कई ऐतिहासिक चीजें शामिल हैं। मसलन किंग्सवे कैम्प, दिल्ली विश्वविद्यालय का वाइस रीगल लॉज। इसमें एक का संबंध जार्ज पंचम से जुड़ा हुआ है दूसरे का क्रांतिकारी भगत सिंह से।

प्रसिद्ध इतिहासकार थापर (सितम्बर 5, 2005) पाठ्यचर्या, पाठ्यक्रम एवं पाठ्यपुस्तक पर चल रहे विचार-विमर्श में शामिल होते हुए यह ध्यान दिलाती हैं कि आज पुरानी पाठ्यपुस्तकों की यह कहकर आलोचना की जा रही है कि ये किताबें भारी, अरुचिकर होने के साथ-साथ विकासात्मक मुद्दों के साथ सरोकार रखने वाली होने के कारण शिक्षार्थियों को इतिहास से विरक्त करने वाली हैं। इस संबंध में उनका मानना है कि आज भले ही विकासात्मक मुद्दों पर बात करना चलन में न हो पर जिन मुद्दों से पुरानी पाठ्यपुस्तकों का सरोकार था वह आज भी शिद्दत के साथ बने हुए हैं। आज जैसी भी पाठ्यपुस्तकें लिखी जाएं उन्हें इन मुद्दों को संबोधित करना ही होगा। थापर यह ध्यान दिलाती हैं कि आर्थिक विषमता के कारण सामाजिक रूप से विशेष दर्जा देने की प्रक्रिया का जारी रहना, नागरिक जीवन में धार्मिक संस्थाओं की दखल, राजनीतिक गोलबन्दी के लिए धार्मिक विचारधाराओं के उपयोग का जारी रहना जैसे मुद्दे आज भी हमारे सरोकार के मुद्दे हैं। हालांकि भारतीय समाज ने इतिहास में पर्याप्त उपलब्धि हासिल की है पर इसी समाज को असमानता, अन्याय और हिंसा से भी जूझना पड़ा/पड़ रहा है। वर्तमान की समझ के लिए इनका गहरा निहितार्थ है। लेखिका यह मानती हैं कि युवाओं के लिए लिखी जाने वाली पाठ्यपुस्तकें निश्चित तौर पर उन तक पहुंचने वाली होनी चाहिएं। पर साथ में यह आशंका भी प्रकट करती हैं कि शिक्षणशास्त्र पर जोर दिए जाने के क्रम में विषयों के प्रति अनुशासनात्मक उन्मुखीकरण कहीं गायब ही न हो जाए। वह संक्षेप में इस तरफ इशारा करती हैं कि चूंकि सामाजिक विज्ञान में शामिल प्रत्येक विषय अपनी विशिष्टता रखते

हुए अपना योगदान देता है इसलिए शिक्षार्थियों को सामाजिक विज्ञान में शामिल प्रत्येक विषय की अपनी विशिष्टता (ज्ञानमीमांसात्मक) से परिचित होना चाहिए। स्थापना यह है कि राज्यतंत्र के सन्दर्भ में मानदण्डात्मक मूल्य जैसे समानता, न्याय, गरिमा जैसे मुद्दों को उठाना यह संकेत करता है कि गरीबी, असाक्षरता, जातिवाद, सांप्रदायिकता जैसी समस्याएं आई ही क्यों। भारतीय समाज से सरोकार रखने वाला लोकतंत्र, धर्मनिरपेक्षता तथा मानवाधिकार के विषय सामाजिक विज्ञान के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। थापर यह बात उठाती हैं कि स्थानीय सन्दर्भ में विविधता की समझ के लिए यह जरूरी है कि हम यह बात भी उठाएं कि विविध समूहों के बीच असमानता क्यों है और इसे समर्थन देने वाली प्रवृत्तियां किस प्रकार रचित होती हैं। इससे आगे यह कि विविधिता किस प्रकार कुछ संस्कृतियों के लिए समृद्धि का स्रोत हो सकती है पर वहीं अन्य संस्कृतियों के लिए दमन का साधन भी। उनका मत है कि स्थानीय स्थितियों तथा अपने इर्द-गिर्द के परिवेश को अधिक सोद्देश्यता के साथ तभी समझा जा सकता है जब इसे वृहत्तर राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में भी देखा जाए। लेखिका यह बात राष्ट्रीय पाठ्यचर्या 2005 के उस संबंध में उठा रही हैं जिसमें यह कहा गया है कि सामाजिक विज्ञान के तहत स्थानीय स्थितियों के सन्दर्भ में भारतीय समाज की विविधता की व्याख्या की जाएगी। उद्देश्य यह है कि शिक्षार्थी स्थानीय सन्दर्भ में विविधता के अस्तित्व को समझ सकें। उनका मानना है कि पाठ्यपुस्तकों को ऐसा अवश्य होना चाहिए कि वह शिक्षार्थियों को भयभीत करने के स्थान पर उनसे मित्रता स्थापित करें पर इसके साथ ही यह भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है कि शिक्षकों को भी शिक्षार्थियों के साथ मित्रतापूर्ण होना चाहिए। कक्षा में शिक्षक-शिक्षार्थी भागिदारी से बहस-मुबाहिसे को प्रोत्साहित करना ही पर्याप्त नहीं है बल्कि व्यापक तौर पर वैसे सघन कार्यक्रम चलाए जाने चाहिएं जिसमें सामाजिक विज्ञान की विधि तथा अवधारणाओं में आए परिवर्तनों के साथ-साथ शिक्षणशास्त्र से स्कूल के शिक्षकों का परिचय करवाया जाए।

सरकार, सुमित ने अपने एक लेख (जुलाई, 2005) में यह बात उठाई है कि सन् 1950 एवं 1960 के समय में लिखी गई इतिहास की पाठ्यपुस्तकों ने उस समय भारतीय इतिहास चिन्तन में आए बदलावों को पहली बार शामिल करने की कोशिश की थी। पर अब भारतीय इतिहास चिन्तन में बहुत सारे बदलाव घटित हो रहे हैं इसलिए पुरानी किताबों में आंशिक तौर पर (भारतीय इतिहास चिन्तन में हो रहे बदलावों में से) थोड़ा बहुत कुछ शामिल कर देने से बात नहीं बन सकती है। इस समय वर्चस्वशाली इतिहास के आख्यान को सुधरने की जरूरत है ताकि जटिलताओं की और एक-दूजे से होकर गुजरने वाली विविध इतिहास आख्यान की धाराओं की पहचान की जा सके। उदाहरण के तौर पर, आधुनिक भारत के इतिहास को उपनिवेशवादी बनाम उपनिवेशवाद विरोधी श्रेणी में बांटकर देखना आधुनिक भारत की समझ के लिए कारगर तरीका नहीं है। बल्कि युवाओं के मद्देनजर शिक्षणशास्त्र, उन तक विषय की पहुंच एवं उसकी सटीकता के सवाल को बड़ी चुनौती के रूप में उल्लिखित किया है। उन्होंने माना है कि भारत के इतिहास की पाठ्यपुस्तक लेखन की सबसे बड़ी समस्या विषयवस्तु की स्तरीयता बढ़ाना नहीं है।

इतिहास की सन् 1990 (सन् 1988 की पाठ्यचर्या के आधार पर बनी) पाठ्यपुस्तकों पर टिप्पणी करते हुए सरकार, सुमित कहते हैं कि जब धर्मनिरपेक्ष किताब लगी हुई थीं तब भी लोगों में खासकर धर्मनिरपेक्ष संवेदना वाले शिक्षकों में इस बात को लेकर चिन्ता बनी हुई थी कि मानविकी एवं समाज विज्ञान, उसमें भी इतिहास, लोगों के बीच सबसे कम रुचि का विषय बनकर रह गया है क्योंकि किताबें बहुत ही भारी एवं स्पष्ट तौर पर कई जगह पर बहुत अरुचिकर रही हैं। सरकार इस संदर्भ में एक हद तक आश्वस्त हैं कि सन् 2005 की पाठ्यचर्या में शिक्षणशास्त्रीय विधियों की बारीकी पर पर्याप्त ध्यान दिया गया है। उनकी स्थापना यह है कि इतिहास की पाठ्यपुस्तक के लेखन में शिक्षार्थियों की क्रियाशीलता, उनकी कल्पना एवं भागीदारी को अभी तक दरकिनार किया जाता रहा है। शिक्षार्थी इतिहास पठन-पाठन के दौरान शिक्षक के शब्दों, व्याख्याओं एवं विश्लेषणों को अंतिम तौर पर आधिकारिक रूप से स्वीकार करने के लिए मजबूर होते रहे हैं। शिक्षार्थियों द्वारा इतिहास के रटने तथा उसे गैर-संवादात्मक तरीके से पढ़ने-पढ़ाने के लिए विवश रहे हैं। सरकार, सुमित 1990 की पाठ्यपुस्तकों एवं 2002 में तैयार की गई पाठ्यपुस्तकों में उपरोक्त बातों को लेकर कोई अन्तर नहीं पाते हैं।

सरकार, सुमित 2005 की पाठ्यचर्या को लेकर कुछ आश्वस्त इसलिए नजर आते हैं क्योंकि इसमें शिक्षाशास्त्र के बुनियादी सवालों पर पर्याप्त रूप से विचार किया गया है। इसमें इतिहास पढ़ने-पढ़ाने के क्रम में शिक्षार्थियों की सक्रिय भागीदारी एवं उनकी कल्पना को शामिल किया गया है। इसलिए 2005 की पाठ्यचर्या ने बालकेन्द्रित उपागम को अपनाया है और शिक्षक को ज्ञान का अंतिम आधिकारिक व्याख्याता मानने के लिए तार्किक तौर पर अभिशप्त नहीं है। सरकार, सुमित का आंकलन है कि ज्ञान सृजन की प्रक्रिया में उपरोक्त किस्म की समस्याएं इतिहास, समाज विज्ञान एवं मानविकी में जटिल रूप ले चुकी हैं जबकि प्राकृतिक विज्ञान के अध्ययन-अध्यापन में यह समस्या इस जैसी नहीं है क्योंकि उसमें शिक्षार्थी प्रयोगशाला में जाकर वैज्ञानिक संबंध एवं पूर्वानुकथन की वैधता की जांच कर सकता है।

वहीं इतिहास के शिक्षार्थी ऐतिहासिक तथ्यों के ढेर को सीखने के लिए विवश किए जाने के खतरों से जूझते रहते हैं। बगैर इस

व्याख्या के कि इसे क्यों रटा जाना चाहिए। इस बात को छेड़ा ही नहीं जाता कि निश्चितता की कितनी डिग्री से यह कहा जा सकता है कि फलां तथ्य रटे जाने लायक हैं। ज्यादा से ज्यादा यह होता है कि ऐतिहासिक स्रोतों का आरंभिक स्तर पर सूचीकरण किया जाता है। संभव है कि विभिन्न विश्लेषणों पर कुछ चर्चा भी कराई जाती हो पर बाकी आख्यानों से कटा होने के कारण यह भी रटी जाने वाली कुछ और चीजों में ही तब्दील हो जाती है। अध्ययन-अध्यापन में रटन्त विद्या के आधार को टटोलते हुए सरकार का मानना है कि वस्तुनिष्ठ एवं लघु-उत्तरीय प्रश्न का ढर्रा अपनाए जाने के कारण ही रटन्त विद्या इतनी फली-फूली है। इसका नतीजा यह होता है कि ऐतिहासिक तथ्य हां/न एवं सही/गलत की कोटियों में बंटने के लिए अभिशप्त होकर अपनी बहु-आयामिता की संभावना खो देते हैं जबकि जीवन में भी अक्सर हां/न एवं सही/गलत की श्रेणियां कामयाब नहीं होतीं।

इतिहास की एक अन्य विडम्बना को रेखांकित करते हुए सरकार का कहना है कि इसमें कई तथ्य कुछ विचित्र अथवा रहस्यमयी रूप अख्तियार कर लेते हैं। अगर इनमें से किसी तथ्य को आप पाठ्यपुस्तक में शामिल नहीं करते हैं तो संभव है कि आप अपर्याप्त राष्ट्रभक्त या फिर राष्ट्रविरोधी ठहराए जाने के लिए अभिशप्त हो जाएं। इसके पीछे यह अवधारणा काम करती है कि स्कूल में इतिहास का उद्देश्य शिक्षार्थियों में 'सही' मूल्यों को संप्रेषित करना, राष्ट्रीय एकता एवं गर्व पैदा करना है। स्कूल में शामिल अन्य विषय इस तरह के मूल्यों से लदे नहीं होते जितना की इतिहास का शिक्षण। सुमित सरकार की यह पुरजोर सिफारिश है कि इतिहास इस समझ के साथ लिखा जाना चाहिए कि कुछ भी सदैव-सर्वदा के लिए नहीं है, कि सभी चीजें परिवर्तन की विषय-वस्तु हैं, कि ऐसा पवित्र कुछ भी नहीं है कि उसे छेड़ा न जा सके, कि कुछ भी 'प्राकृतिक' नहीं है क्योंकि सामाजिक दुनिया इंसानों से बनी है और इसी कारण बदलाव के लिए संभावनाशील भी है। इसके साथ यह भी कि अतीत में देश कई तरह से भिन्न था, कि इतिहास कोई पूरी तरह से निरंतरता की धारा नहीं है और इसलिए वर्तमान पीढ़ी को यह कहकर प्रताड़ित किया जाना कि तुम्हारे पूर्वजों ने ऐसा किया यह एक तरह से नस्लवाद से ज्यादा कुछ नहीं है।



2005 की पाठ्यचर्या पर आधारित इतिहास की वर्तमान पाठ्यपुस्तकों (सन् 2006 से 2007 के बीच बनाई गई) ने इतिहास अध्ययन-अध्यापन के लिए जिन विषयों का चयन किया है वह एकबारगी से चौंका देने वाला है। स्कूली अथवा विश्वविद्यालयी शिक्षा से गुजरे हुए इतिहास के शिक्षार्थी का इतिहास के जिस तरह के विषयों में समाजीकरण हुआ है वह इतिहास की विषय-वस्तु के संबंध में कई तरह की रूढ़ियां रचता है। पहली रूढ़ि तो यह कि सिलसिलेवार होना, दूसरी रूढ़ि एक समय में एक जगह की बात करने वाला, तीसरी रूढ़ि हर तरह की ऐतिहासिक घटनाओं को पांच तरह के कारणों में विभक्त करना- आर्थिक कारण, सामाजिक कारण, राजनैतिक कारण, सांस्कृतिक कारण और तात्कालिक कारण। पर 2006-07 की पाठ्यपुस्तकें इन रूढ़ियों को चुनौती देती हैं। उदाहरण के लिए, कक्षा नौ की पुस्तक की विषय-सूची देखें, खण्ड-I : घटनाएं और प्रक्रियाएं 1. फ्रांसिसी क्रांति 2. यूरोप में समाजवाद एवं रूसी क्रांति 3. नात्सीवाद और हिटलर का उदय, खण्ड-II जीविका, अर्थव्यवस्था एवं समाज 4. वन्य समाज एवं उपनिवेशवाद 5. आधुनिक विश्व में चरवाहे 6. किसान और काश्तकार, खण्ड-III : रोजाना की जिंदगी, संस्कृति और राजनीति 7. इतिहास और खेल : क्रिकेट की कहानी 8. पहनावे का सामाजिक इतिहास।

उपरोक्त विषय-सूची पर गौर-फरमाने से यह सरलता से बताया जा सकता है कि खण्ड-I का शीर्षक एवं उसका उपशीर्षक इतिहास अध्ययन-अध्यापन की सामान्य परिपाटी की ही याद दिलाता है पर खण्ड-II तथा खण्ड-III के अन्तर्गत जो शीर्षक एवं उपशीर्षक रखे गए हैं वे स्कूल में इतिहास शिक्षण की दृष्टि से सर्वथा नवीन हैं। उदाहरण के लिए, उपनिवेशवाद तो पहले भी पढ़ाया जाता था पर इसमें विषय के साथ बर्ताव की जो प्रकृति थी वह टॉप-डाउन वाली थी यानी सर्वोच्च अथवा शीर्ष की आर्थिक, राजनैतिक संस्था से श्रीगणेश किया जाता था। पहले बतलाया जाता था कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी कैसे आई, किन रास्तों से चलकर आई, उसका शुरुआती उद्देश्य क्या था, किस प्रकार उसने भारतीय राज्यों को फतह किया और किस तरह भारत भाग्य विधाता बन गए, फिर उनकी प्रशासन व्यवस्था उसकी इकाईयों तथा लगान व्यवस्था की चर्चा होती थी। स्कूली इतिहास शिक्षण में उपनिवेशवाद को पढ़ाए जाने का मोटे तौर पर यही परिचय हुआ करता था। भिन्न लेखकों, भिन्न प्रकाशकों, भिन्न राज्यस्तरीय पाठ्यपुस्तक निर्माण समितियों की किताबों में पाठ लिखने के ढंग को लेकर, उसमें दी गई समाग्री की प्रचुरता के लिहाज से और तस्वीरों एवं अभ्यास प्रश्नों की दृष्टि से भिन्नता का एक बड़ा विस्तार तो होता था पर सभी सामान्य तथा इसी परिपथ का अनुगमन करते थे। पर वर्तमान पाठ्यपुस्तक उपनिवेशवाद में अलग ही कोण से झांकता है और वह कोण है वन्य-समाज का। छत्तीसगढ़

के साल वन, सिंहभूम के जंगल, रंगून के एक लकड़ी गोदाम की तस्वीरों के अलावा जॉन डॉसन की पेंटिग और कुछ लेखकों की तफसीलों की मदद से वह इसकी पृष्ठभूमि रचती है। वह यह बतलाती है कि किस प्रकार कितनी तेजी से वन की विविधता नष्ट होती गई और साथ में विनष्ट हुआ जंगल का फैलाव भी। इस विभीषिका को वह तस्वीरों के सहयोग से संवेदना की धरातल पर ले जाने की कोशिश करता है। एक ओर ईंधन की लकड़ी इकट्ठा कर घर को लौटती औरतों की तस्वीर है (चित्र संख्या 6, पृ. 81) दूसरी तरफ लम्बे-लम्बे मोटे-मोटे विशाल लकड़ी के लट्ठे ले जाते हुए ट्रक की तस्वीर है (चित्र संख्या 7, पृ. 81)।

इसी चित्र की बगल में बॉक्स में लिखा है, ''लट्ठे काटने के लिए किसी क्षेत्र का चुनाव करने के बाद वन विभाग सबसे पहले चौड़ी सड़कों का निर्माण करता है जिससे ट्रकों का प्रवेश संभव हो सके। जंगल के उन रास्तों से इसकी तुलना करें जिनसे होकर लोग ईंधन की लकड़ी या दूसरे लघु वन-उत्पाद इकट्ठा करने के लिए जाया करते थे। ऐसे अनेक ट्रक लकड़ी से भरे हुए जंगलों से बड़े शहरों को जाते थे।'' (पृ. 81)

दोनों तस्वीरों की अवस्थिति तुलना करने का मौका देती है। तुलना करने पर यह साफ दिखाई दे जाता है कि पारंपरिक समाज में वन और आधुनिक समय में वन कटाव की स्थिति में कितना भयावह परिवर्तन आया है। जहां पारंपरिक समाज की लकड़ी इकट्ठा करती हुई महिलाएं जिस तरह की पगडंडी से आ रही हैं उस पगडंडी को बनाने के लिए किसी तरह के वन कटाव की कोई जरूरत नहीं है। वह बिना किन्हीं पौधों के काटे ही संभव है जबकि वहीं ट्रक में लदे लकड़ी के विशाल लट्ठों को ले जाने के लिए चौड़ी-सड़क चाहिए जिसमें वनों को काटना अनिवार्य पूर्व शर्त है। चित्र संख्या 7 के जिस टेक्स्ट को ऊपर उद्धृत किया गया है जिसमें शिक्षार्थियों से तुलना करने के लिए कहा गया है। यह तुलना-तस्वीर तथा लिखित टेक्स्ट के जरिए- वह शिक्षाशास्त्रीय गुंजाइश पैदा करती है जिसमें शिक्षार्थी इस विभीषिका से न केवल संज्ञानात्मक तौर पर जुड़े बल्कि उसके भावनात्मक तथा सौन्दर्यात्मक पक्ष में भी बदलाव आए, जिसके बगैर सार्थक और रूपान्तकारी परिवर्तन की उम्मीद नहीं की जाती। ध्यातव्य है कि आधुनिक शिक्षा की यह बुनियादी आलोचना है कि इसमें शिक्षार्थी का संज्ञानात्मक विकास तो हो जाता है पर उसका भावनात्मक पक्ष विकसित नहीं हो पाता। कारण यह है कि आज की शिक्षा इसको ध्येय करके चलती ही नहीं।

पाठ में मनो-भाविक क्षेत्र को संबोधित करने वाली कई तस्वीरें और भी हैं। मसलन चित्र 5- रंगून के एक लकड़ी गोदाम में लकड़ी के शहतीर सहेजता हुआ हाथी। जिसके नीचे लिखा है- ''औपनिवेशिक दौर में अक्सर हाथियों का इस्तेमाल जंगलों और लकड़ी के गोदामों में भारी-भरकम लकड़ी को उठाने के लिए किया जाता था।'' (पृ. 80)। इसी प्रकार चित्र 4 में ''बांस के बेडे कासालांग नदी में बह कर जाते हुए दिखलाए गए हैं और जगह का नाम लिखा है चिट्टगांग पर्वतीय पट्टी। इन दोनों ही चित्रों को देखकर दिल को यह लगता है कि कितनी भारी मात्रा में उस समय वन-कटाव रहा होगा। इस पाठ में दिए गए सजीव चित्र केवल इस पाठ की विशिष्टता नहीं हैं बल्कि सभी पाठों में इस तरह के प्रचुर चित्र उपलब्ध हैं और वह भी न केवल कक्षा नौ की पाठ्यपुस्तक में बल्कि सभी कक्षाओं की पाठ्यपुस्तकों की यह खासियत है।

2006-07 की इतिहास की पाठ्यपुस्तकों की तस्वीरें अपनी पूर्ववर्ती पाठ्यपुस्तकों की तस्वीरों से शिक्षाशास्त्रीय रूप से भिन्न हैं। पूर्ववर्ती पाठ्यपुस्तकों में दी गई तस्वीरों को देखने पर लगता है कि वे लिखित सामग्री की ही चित्रात्मक प्रस्तुति हैं जिसका उद्देश्य लिखित सामग्री के संदेश को स्थायित्व प्रदान करना है या फिर ज्यादा से ज्यादा लिखित सामग्री के अमूर्त का मूर्तन करना। माना जा सकता है कि इसके पीछे का शिक्षाशास्त्रीय दर्शन यह रहा होगा कि चित्र अर्मूत को मूर्त बना देते हैं जिससे सीखने-सिखाने की प्रक्रिया अपेक्षाकृत सार्थक हो जाती है। इस लिहाज से 2006-07 की इतिहास की पाठ्यपुस्तकें अगली पीढ़ी के शिक्षाशास्त्रीय दर्शन को अपना कर चलती हैं- वह यह कि चित्र लिखित सामग्री का मूर्त न होकर उसका विस्तारण होता है। यही वजह है कि इन पाठ्यपुस्तकों की तस्वीरें मुख्य लिखित सामग्री का मुख्य हिस्सा हैं, मुख्य टेक्स्ट हैं कोई अनुपूरक सामग्री नहीं। वह लिखित सामग्री के साथ मिलकर संग-संग चलते हुए शिक्षार्थियों को इतिहास का सफरनामा तय करवाता है। कई जगह पर चित्र इतने संभावनाशील हैं कि लिखित सामग्री के पढ़े बगैर ही वह इतिहास के बदलावों की मुकम्मल झांकियां पेश कर देती हैं।

पाठ्यपुस्तक में आई गांधीजी की तस्वीरों की श्रृंखला (कक्षा नौ, एनसीईआरटी, इतिहास की पाठ्यपुस्तक, पाठ-आठ, पहनावे का सामाजिक इतिहास पृ. 173-177) में इसका उत्कर्ष देखा जा सकता है। गांधीजी की एक तस्वीर है जिसके नीचे लिखा है- ''चित्र 20- महात्मा गांधी की चिर-परिचित तस्वीर, खुले बदन चरखा कातते हुए'' (पृ. 173)। दूसरी तस्वीर गांधीजी के बचपन की है जिसके नीचे लिखा है- ''चित्र 21 - महात्मा गांधी 7 साल के, अपनी सबसे पुरानी तस्वीर में'' (पृ. 174)। तीसरी तस्वीर के नीचे लिखा है, ''चित्र 22 महात्मा गांधी 14 साल के, अपने एक दोस्त के साथ''। चौथी तस्वीर में लिखा है, ''चित्र 23- महात्मा गांधी, लंदन में, 1890, उम्र 21 वर्ष, गौर कीजिए कि बाकायदा पश्चिमी थ्री-पीस सूट में हैं'' (पृ. 174)। पांचवीं के नीचे है, ''चित्र 24- जोहोनसबर्ग 1900 ई. अब तक पश्चिमी लिबास में, टाई भी है'' (पृ. 174)। छठी के नीचे



लिखा है, ''चित्र 25- सन् 1913. दक्षिण अफ्रीका सत्याग्रह की पोशाक में'', (पृ. 174)। सातवीं के बगल में लिखा है, ''चित्र 26-कस्तूरबा के साथ महात्मा गांधी- दक्षिण अफ्रीका से लौटने के बाद। सादे लिबास में। उन्होंने बाद में स्वीकार किया कि बंबई के पश्चिमीकृत अभिजात वर्ग के बीच उन्हें अटपटा-सा लगा। उन्होंने कहा कि उन्हें दक्षिण अफ्रीका के मजदूरों की संगति में घर-जैसा महसूस हुआ'' (पृ. 175)। आठवीं के नीचे लिखा है, ''चित्र 27 - महात्मा गांधी पगड़ी में'' (पृ. 177)। नौवीं के नीचे लिखा है, ''जड़ाऊ कश्मीरी टोपी पहने,'' (पृ. 177), दसवीं चित्र के नीचे लिखा है, ''चित्र 29 गांधी टोपी लगाए''। ''ग्यारहवें चित्र के नीचे लिखा है''। ''चित्र 30 सिर मुंड़ाने के बाद'', (पृ. 177)। बारहवें चित्र के नीचे लिखा है, ''चित्र 31-अपनी 1931 की यूरोप यात्रा पर अब तक उनके कपड़े पश्चिमी सांस्कृतिक वर्चस्व के विरोध की अभिव्यक्ति बन गए थे'' (पृ. 177)।

गांधीजी की तस्वीरों की यह तफसील पाठ्यपुस्तक के गांधी को सजावट की चीज न बनाकर उनके राजनैतिक दर्शन की दास्तां को मुकम्मल तौर पर बयान करने वाली मुख्य लिखित सामग्री की तरह ही मुख्यधारा की चीज है, न कि पूर्ववर्ती पाठ्यपुस्तक की तरह मुख्य लिखित सामग्री को सहायता पहुंचाने वाली आनुषंगिक प्रसंग।

2006-07 की इतिहास की पाठ्यपुस्तकें, ''काम, आराम और जीवन'', ''मुद्रण संस्कृति और आधुनिक दुनिया'', ''उपन्यास, समाज और इतिहास (कक्षा 10, भारत और समकालीन विश्व-2 एनसीईआरटी)'', ''इतिहास और खेल : क्रिकेट की कहानी'', ''पहनावे का सामाजिक इतिहास'', ''वन्य समाज एवं उपनिवेशवाद'', ''आधुनिक विश्व में चरवाहे'', ''किसान और काश्तकार'', जैसे विषयों को अपने संबोध्य क्षेत्र में लाती है (कक्षा 9 : भारत और समकालीन विश्व-I)। पाठ्यपुस्तक एक जगह पर स्थापित करती है, ''समकालीन विश्व का इतिहास सिर्फ उद्योग और व्यापार, विज्ञान और प्रौद्योगिकी, रेलवे और सड़कों का इतिहास नहीं है। इनके साथ-साथ यह वनवासियों और चरवाहों, घुमन्तू काश्तकारों और छोटे किसानों का भी इतिहास है। इन सभी सामाजिक समूहों ने आज की दुनिया को आज जैसा बनाने में अपना योगदान दिया है'' (पृ. VI, कक्षा 9)। इस तरह के विषय को अध्येय क्षेत्र में सम्मान के साथ लाने की यह परिघटना पाठ्यपुस्तक जगत के इतिहास में पहली बार घटी है। आमतौर पर माना जाता है कि विश्वविद्यालय का इतिहास विमर्श आगे के स्तर का विमर्श होता है। वर्तमान हिन्दुस्तान के विभिन्न विश्वविद्यालयों में चल रहे इतिहास के विमर्श-पाठ्यक्रम के जरिए- को देखा जाए तो माना जा सकता है कि निम्नवर्गीय इतिहास, सामाजिक इतिहास, सामान्यजन का इतिहास अभी इन विश्वविद्यालयों में मुख्यधारा के इतिहास से टकराने की भी हैसियत में नहीं आया है बल्कि कई जगहों पर तो यह संज्ञान क्षेत्र से बाहर ही है। निश्चित रूप से हाथ की अंगुलियों पर गिने-जाने वाले कुछेक विश्वविद्यालय अपवाद माने जा सकते हैं।

इतिहास-शिक्षा के इस हालात में औपचारिक शिक्षा के सबसे निचले पायदान पर रहने वाले स्कूली जगत में इतिहास की पाठ्यपुस्तकों ने यह चिन्तनपरकता दिखलाई है तो माना जा सकता है कि शिक्षार्थी ऐसे शिक्षण से गुजरता हुआ इतिहास की बहुकोणीयता में जीएगा। उम्मीद की जा सकती है कि ऐसे कदम इतिहास की बनी-बनाई रूढ़ियों से मुक्त करेंगे और इतिहास के समतलीकरण, एकरूपीकरण, एकहरेपन एवं मिथकीकरण के खिलाफ एक मुकम्ममल प्रतिरोध साबित होंगे।

महिलावादी विमर्श की स्थापना यह रही है कि ज्ञान की विभिन्न संरचनाओं- स्कूली, विश्वविद्यालयी तथा अनौपचारिक-में महिलाओं की सक्रिय भागीदारी, उनके योगदानों तथा उनकी हार-जीत, आशाओं-निराशाओं को प्रतिनिधित्व नहीं मिलता है क्योंकि ज्ञान की ये संरचनाएं पितृसत्ता की गिरफ्त में हैं। निश्चित रूप से स्कूली इतिहास की पाठ्यपुस्तकें इसका अपवाद नहीं रही हैं। इतिहास के बनने-बिगड़ने में महिलाओं की भागीदारी पर या तो ये किताबें खामोशी बरत लेती हैं या फिर उन्हें सांकेतिक (टोकेन) अथवा परंपरागत रूढ़ि आधारित भूमिकाओं में दिखा देती हैं। इस विडम्बना को अब कई इतिहासकार भी दर्शाते हैं। इतिहास में महिलाओं की इस उपेक्षा को पहचानते हुए इतिहासकारों ने इस दिशा में कुछ काम किया भी है और आगे काम जारी भी है। पर इतिहास की स्कूली पाठ्यपुस्तकों की हालत इस संबंध में और भी दयनीय रही है क्योंकि आमतौर पर यह परिपाटी देखी गई है कि ज्ञान सृजन का काम तो संबंधित अनुशासनों में होता है फिर वह धीरे-धीरे छनकर पाठ्यपुस्तक लेखन की चेतना को गीला करता है। जाहिर है कि पाठ्यपुस्तकें सामान्यतया महिलाओं के इतिहास पर खामोशी बरतती आ रही हैं। पर 2006-07 की पाठ्यपुस्तकें महिलाओं के प्रति इस उपेक्षा, खामोशी अथवा उन्हें प्रतीकात्मक- आनुषंगिक रूप से चित्रित करने की इस पुरानी परिपाटी को तोड़ती हैं। कक्षा 9 की किताब (भारत और समकालीन विश्व-1) महिला चित्रकारों की बनाई तस्वीर (पृ. 15, चित्र 10) क्रांतिकारी महिला 'ओलम्प दे गूष' (1748-1793) का जीवन (पृ. 19), 'वर्साय की ओर कूच करती पेरिस की औरतें'

(पृ. 18), 'बेकरी की दुकान में महिलाएं' (पृ. 10, चित्र 13)। 'पहनावे का सामाजिक इतिहास' अध्याय में महिलाओं के पहनावे का इतिहास दिया गया है। अध्याय सात 'इतिहास और खेल : क्रिकेट की कहानी', में भी बतलाया गया है कि औरतों के लिए क्यों क्रिकेट नहीं बल्कि क्रोकेट हुआ करता था। किस प्रकार औरत एवं मर्द आपसी प्रतिस्पर्धा के लिए नहीं बल्कि मनोरंजन के लिए साथ-साथ खेलते थे।

सन् 2007 में बनी कक्षा 10 की पाठ्यपुस्तक, ''भारत और समकालीन विश्व-2'' (एनसीईआरटी) के ''यूरोप में राष्ट्रवाद का उदय'' अध्याय में स्वतंत्रता और समानता का महिलाओं के लिए क्या अर्थ है इसे बतलाया गया है (पृ. 17)। वियतनाम के साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलन में औरतों की भूमिका और उसका राष्ट्रवादी विचारधारा के साथ संबंध पर चर्चा की गई है। इसमें औरतों को कई गैर-पारंपरिक प्रगतिशील भूमिकाओं में दर्शाया गया है। मसलन योद्धा औरतें, शान्ति के समय औरतें (पृ. 49-51)। भारत में राष्ट्रवाद की चर्चा करते समय भी महिलाओं की भागीदारी पर बात की गई है। इसमें महिलाओं को एक सामान्य श्रेणी के अन्तर्गत नहीं देखकर, शहरी-ग्रामीण, संपन्न-गरीब महिलाओं में कोटिबद्ध करके देखा गया और फिर अलग-अलग समाजो-सांस्कृतिक एवं आर्थिक पृष्ठभूमि का होने के नाते राष्ट्रवादी आन्दोलन से उनका क्या रिश्ता बनता है, इन पर चर्चा की गई है। औरतों की अवस्थिति, उनका राष्ट्रवादी आन्दोलन के साथ रिश्ता और इसका उनके जीवन पर पड़ने वाले असर पर टिप्पणी करते हुए पाठ्यपुस्तक कहती है, ''सिविल ना फरमानी में औरतों ने बड़े पैमाने पर हिस्सा लिया। गांधीजी के नमक सत्याग्रह के दौरान हजारों औरतें उनकी बात सुनने के लिए घर से बाहर आ जाती थीं। उन्होंने जुलूसों में हिस्सा लिया, नमक बनाया, विदेशी कपड़ों व शराब की दुकानों की पिकेटिंग की। बहुत सारी महिलाएं जेल भी गईं। शहरी इलाकों में ज्यादातर ऊंची जातियों की महिलाएं सक्रिय थीं जबकि ग्रामीण इलाकों में संपन्न किसान परिवारों की महिलाएं आन्दोलन में हिस्सा ले रही थीं। गांधीजी के आह्वान के बाद औरतों को राष्ट्र की सेवा करना अपना पवित्र दायित्व दिखाई देने लगा था। लेकिन सार्वजनिक भूमिका में इस इजाफे का मतलब यह नहीं था कि औरतों की स्थिति में कोई भारी बदलाव आने वाला था'' (पृ. 66-67)। भारत में राष्ट्रवादी आन्दोलन के संदर्भ में महिलाओं पर की गई यह टिप्पणी बतलाती है कि पाठ्यपुस्तक महिलाओं के संबंध में सरलीकृत उपागम नहीं रखता बल्कि उन्हें जटिलताओं में रखकर देखती है। इतिहास में उनके प्रतिनिधित्व को टोकन प्रतिनिधित्व के रूप में न बरतकर उन्हें उनकी ऐतिहासिक भूमिका में देखता है। इसी प्रकार ''काम, आराम और जीवन'' नामक अध्याय में पाठ्यपुस्तक ''शहर में मर्द, औरत और परिवार की चर्चा'' करती है। एक अन्य जगह ''रोजाना की जिन्दगी, संस्कृति और राजनीति'' नामक अध्याय में वह यूरोप में साक्षरता की प्रगति और उसका महिलाओं पर पड़ने वाले असर की चर्चा करता है। मुद्रण तकनीक ने महिलाओं की जिन्दगी पर क्या प्रभाव डाला और उपन्यास विधा के साथ महिलाओं के क्या रिश्ते बने, इन पर भी किताब रोशनी डालती है बल्कि एक पूरा हिस्सा ही इसको समर्पित है, ''महिलाएं और उपन्यास'', कक्षा 9 की किताब में एक समूचे खण्ड में महिला की दृष्टि से ऐतिहासिक परिघटना को देखा गया है। इसका शीर्षक है- ''क्या महिलाओं के लिए भी क्रांति हुई''। इसी किताब में फरवरी क्रांति में महिलाओं की भागीदारी को बॉक्स में दिया गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि 2006-07 की इतिहास की पाठ्यपुस्तकों में महिलाओं को पैबन्द की तरह चस्पा नहीं किया गया है बल्कि वह आम इतिहास के साथ ही अन्तर्गुम्फित हैं। वह पाठ्यपुस्तक का एक अलग हिस्सा न होकर पाठ्यपुस्तक का नजरिया है।

2006-07 की इतिहास की पाठ्यपुस्तकों में कुछ नए शीर्षक हैं- 'परिभाषा', 'स्रोत', 'अतिरिक्त जानकारी', 'अन्यत्र', 'उपयोगी शब्द', 'कुछ महत्त्वपूर्ण तिथियां', 'कल्पना करो', 'आओ याद करें', 'आओ चर्चा करें', 'आओ करके देखें' जो इसे अपनी पूर्ववर्ती पाठ्यपुस्तकों से अलग करते हैं। ध्यातव्य है कि इनमें से बहुत सारे स्रोत चित्रों के रूप में हैं। प्रत्येक चित्र की अपनी कहानी है। आमतौर पर पाठ्यपुस्तकें शिक्षार्थियों को इतिहास की जानकारियां देती हैं। किताबें थोड़ी अच्छी हुईं तो इतिहास की घटनाओं, प्रक्रियाओं का विश्लेषण भी दिया जाता है पर ध्यान रखने की बात यह है कि इतिहास का यह विश्लेषण, निष्कर्ष एवं निहितार्थ भी बने बनाए तौर पर ही शिक्षार्थियों को दे दिए जाते हैं। ये विश्लेषण, निष्कर्ष एवं निहितार्थ लेखक के अपने हुआ करते हैं। पर लेखक यह नहीं बतलाता कि वह किन स्रोतों, अनुमानों, संकेतों, चिन्हों से गुजरते हुए इतिहास के इस विश्लेषण, निष्कर्ष पर पहुंचा है। वह संभवतः इस बात की आवश्यकता नहीं समझता था। सन् 1990 की एनसीईआरटी की पाठ्यपुस्तकें कई जगहों पर स्रोतों का उल्लेख तो करती हैं पर एक पेशेवर इतिहासकार की तरह इतिहास के जिज्ञासुओं के लिए। वह इस बात का ख्याल नहीं रखती कि सामने वाला फलां कक्षा का इतिहास का शिक्षार्थी है। पर सन् 2006-07 की इतिहास की पाठ्यपुस्तकें (एनसीईआरटी) अपने शिक्षार्थियों के (एनसीईआरटी, इतिहास) सामने स्रोतों का खुलासा इस प्रकार करती हैं ताकि वह स्रोतों से इतिहास सम्मत ज्ञान कैसे सृजित होता है- इस विद्या से परिचित हो सकें। और यही सन् 2006-07 की पाठ्यपुस्तकों की खासियत है कि वह शिक्षार्थियों के सामने यह उजागर करती हैं कि इतिहासकार इतिहास का ज्ञान आखिर बनाता कैसे है। यानी 2006-07 की

इतिहास की पाठ्यपुस्तकें (एनसीईआरटी) इतिहास का ज्ञान ही नहीं देतीं बल्कि इतिहास की ज्ञानमीमांसा की बात भी तवज्जो के साथ करती हैं। और यही खासियत 2006-07 की पाठ्यपुस्तकों को इतिहास की एक और किताब बनाने की जगह उसे इतिहास की पाठ्यपुस्तक बनाती है। इतिहास का शिक्षणशास्त्र इन किताबों के केन्द्र में है इसलिए यह इतिहास की किताब नहीं बल्कि पाठ्यपुस्तकें साबित होती हैं।

सन् 2006-07 की पाठ्यपुस्तकों का अभ्यास पक्ष भी रुचिकर है। अगर हम इतिहास की पूर्ववर्ती पाठ्यपुस्तकों को देखें तो पाएंगे कि उनके अभ्यास-प्रश्नोत्तर सुनिश्चित करने वाली प्रकृति के होते हैं। यानी अभ्यास के प्रश्न वे हुआ करते थे जिनका उत्तर या तो पाठ के आधार पर या पाठ में खोज कर दिया जा सकता है। इसमें शिक्षार्थी से इतनी भर उम्मीद की जाती थी कि वे पाठों को ठीक से पढ़कर उसका ध्यान रखें। उन्हें पाठ में दी गई जानकारी याद हो। और अगर याद न भी हो तो वे इन प्रश्नों के जरिए ही पाठ के मुख्य संदेश/जानकारी को याद करें। इस लिहाज से 2006-07 की इतिहास की पाठ्यपुस्तकें नई पीढ़ी की पाठ्यपुस्तकें मानी जा सकती हैं। क्योंकि इसके अभ्यास पाठ के मुख्य संदेश या जानकारियों को स्थापित करने वाले न होकर पाठ की विषयवस्तु को आगे बढ़ाने वाले हैं। उदाहरण के लिए एक अध्याय ''अशोकः एक अनोखा सम्राट जिसने युद्ध का त्याग किया'' के अभ्यास प्रश्न पर विचार करते हैं। अभ्यास का पहला सवाल कल्पना करो शीर्षक के तहत है, ''तुम कलिंग में रहती हो और तुम्हारे मां-बाप को युद्ध में काफी दुख उठाने पड़े हैं। अभी-अभी अशोक के दूत धम्म के नए विचारों को लेकर आए हैं। आप अपने माता-पिता और संदेशवाहकों के बीच बातचीत का वर्णन करो।'' अभ्यास के दूसरे प्रश्न, ''आओ चर्चा करें'' के सवाल को देखें। इसमें पूछा गया है, ''उन समस्याओं की सूची बनाओ जिनका समाधान अशोक धम्म द्वारा करना चाहता था।'' अगला सवाल है, ''धम्म के प्रचार के लिए अशोक ने किन साधनों का प्रयोग किया ?'' इसके बाद है, ''तुम्हारे अनुसार दासों और नौकरों के साथ बुरा व्यवहार क्यों किया जाता होगा ? क्या तुम्हें ऐसा लगता है कि सम्राट के आदेशों से उनकी स्थिति में सुधार होगा ? अपने जवाब के लिए कारण बताओ। ''आओ करके देखें'' शीर्षक के तहत के सवाल हैं ''रौशन को यह बताते हुए कि हमारे रुपयों पर शेर क्यों दिखाए गए हैं, एक पैराग्राफ लिखो। कम से कम एक और चीज का नाम लो, जिस पर इन्हीं शेरों के चित्र बने हैं।'' अगला अभ्यास है ''अगर तुम्हारे पास अपना अभिलेख जारी करने की शक्ति होती तो तुम कौन-सी चार राजाज्ञाएं देते ?'' (हमारे अतीत-1, कक्षा 6, एनसीईआरटी, 2006, पृ. 82) इन अभ्यासों पर विचार करने पर साफ पता चलता है कि ये अभ्यास निश्चिततावादी प्रकृति के नहीं हैं बल्कि इन अभ्यासों के करने में शिक्षार्थी अनुमान लगाने, कल्पना करने, विश्लेषण करने, निष्कर्ष निकालने, निहितार्थ पर सोचने के लिए प्रेरित होगा और इस तरह उस ऐतिहासिक कालखण्ड में प्रवेश कर सकेगा जिसका जिक्र पाठ करता है।



सन् 2006-07 की इतिहास की पाठ्यपुस्तकों पर कई तरह की असहमतियां एवं असंतोष भी हैं। पहला तो यह कि इतिहास की पाठ्यपुस्तकें जिन विषयों को अपनी विषयवस्तु बनाती हैं उनमें इतिहास की कालक्रमिकता तथा विषयगत एक रेखीय क्रमगतता एवं चरणबद्धता नहीं है। उदाहरण के लिए, कक्षा 6 की पुस्तक आरंभिक मानव से शुरू होती है। राज्य, राजा और प्राचीन गणराज्य पर आती है, फिर अशोक पर। वैसे ही कक्षा 9 की किताब में फ्रांसिसी क्रांति फिर यूरोप में सामाजवाद एवं रूसी क्रांति, नात्सीवाद और हिटलर के उदय पर जाती है। कुछ लोगों की मान्यता है कि इसमें विश्वयुद्ध और साम्राज्यवाद की चर्चा नहीं होने के कारण क्रम भंग होता है। विषय चरणगत नहीं है बल्कि उसमें एक तरह की खाई है। मान्यता है कि यह क्रमभंगता, एकरेखीय क्रमगतता एवं चरणबद्धता के अभाव में शिक्षार्थी इतिहास की संपूर्णता में समझ नहीं बना पाएंगे। इस पाठ्यपुस्तक के आधार पर बनी इतिहास की समझ खण्डित होगी। मान्यता है कि 2006-07 की पाठ्यपुस्तकों ने इतिहास के कुछ मुद्दों का चयन किया है तथा अपना ध्यान भी इन्हीं मुद्दों पर केन्द्रित किया है। कक्षा 9 की पाठ्यपुस्तक में वन्य समाज एवं उपनिवेशवाद दिया गया है। कक्षा 10 की पाठ्यपुस्तक में राष्ट्र को विषय बनाया गया है। आरोप यह है कि भारतीय राष्ट्रवाद पर बात कैसे की जा सकती है जब तक उसके ठीक पहले भारत में उपनिवेशवाद की विस्तार से चर्चा नहीं कर ली जाती। उनकी मान्यता है कि यह क्रम में होना चाहिए। मसलन मुगल साम्राज्य का पतन, अंग्रेजों का भारत आगमन और उनके द्वारा भारत का उपनिवेश बनाया जाना। फिर शोषण तथा राष्ट्रवाद का क्रम बनता है। अब यहां बहस इतिहास की सैद्धांतिकी को लेकर है कि क्या इतिहास का एकरेखीय चरणगत गतिक्रम होता भी है या फिर यह एक सुविधा के लिहाज से बनाई गई कृत्रिम शैली है। सवाल यह है कि क्या इतिहास इसी गतिक्रम में घटता है या फिर इतिहास बताने के लिए यह तरीका अपनाया गया है।

अगर इतिहास एक रेखीय क्रमबद्धता, चरणबद्धता तथा श्रृंखलाबद्धता में घटता है तब तो माना जा सकता है कि पाठ्यपुस्तकें इस लिहाज से कमजोर हैं और अगर यह क्रमबद्धता, श्रृंखलाबद्धता, चरणबद्धता इतिहास में नहीं घटता बल्कि इनका इस्तेमाल इतिहास बताने के लिए एक तरीके के रूप में किया जाता है तो सोचना होगा कि क्या वाकई इतिहास बनाने अथवा लिखने के लिहाज से यह तरीका त्रुटिरहित है अथवा इसमें हेर-फेर, बदलाव एवं नवाचार की गुंजाइश है। 2006-07 की पाठ्यपुस्तकें चूंकि शिक्षाशास्त्रीय विमर्श एवं उसकी स्थापनाओं को केन्द्र में रखकर अपने पाठों की रचना करती है इसलिए उसका इतिहास बताने का तरीका नवाचारी एवं परंपरागत शैली का पोषक न हो तो आश्चर्य नहीं। क्योंकि इसके पहले शिक्षाशास्त्र एवं शिक्षणशास्त्र पाठ्यपुस्तकों के केन्द्र में नहीं होता था बल्कि पाठ्यपुस्तकों के केन्द्र में अनुशासन का ज्ञान होता था।

दूसरी आलोचना यह है कि इन पाठ्यपुस्तकों में जो भी पाठ्य विषय चुना गया है उससे संबंधित प्रचुर सामग्री पाठ्यपुस्तक में नहीं है। वह बहुत रफ्तार से एक मुद्दे से दूसरे मुद्दे पर चली जाती है। असल में पाठ्यपुस्तक केन्द्रित स्कूली शिक्षा व्यवस्था में पाठ्यपुस्तक ही गीता, कुरान, बाईबिल समझी जाती रही है। सामान्यतया शिक्षक उसी पाठ्यपुस्तक को एकमात्र आधार सामग्री बनाकर उनको पढ़ा दिया करते थे। वस्तुतः बात इससे भी आगे की थी वह यह कि पाठ्यपुस्तक ही पाठ्यचर्या, पाठ्यक्रम तथा परीक्षा का एकमात्र सन्दर्भ हुआ करती थी। पाठ्यपुस्तक को सर्वस्व समझे जाने तथा उससे परे जाने की कल्पनाहीनता की संस्कृति ही वर्चस्व में थी, वह कमोवेश आज भी है। पर 2006-07 की पाठ्यपुस्तक उस शिक्षाशास्त्रीय स्थापना पर टिकी हुई है जिसमें माना यह जाता है कि पाठ्यपुस्तक विषय शिक्षण की उपलब्ध सामग्रियों में से एक सामग्री है न कि एकमात्र सामग्री। इस शिक्षाशास्त्रीय स्थापना में शिक्षक/शिक्षिका एवं शिक्षार्थियों से यह उम्मीद की जाती है कि वे चयनित विषय पर पुस्तकालय जाकर अन्य सामग्रियों का अध्ययन करें।

निश्चित तौर पर पाठ्यपुस्तक का यह उपागाम विषय अध्ययन-अध्यापन की नई संस्कृति तथा नए तरह के स्कूलों की मांग करता है। नए तरह के स्कूल जिसका प्रबंधन, समय सारिणी आदि सभी जुदा हों। जिसमें शिक्षकों को ज्यादा स्वायत्तता तथा पहल कदमी करने का मौका हो और स्वाध्याय के लिए लाजिमी फुर्सत भी। पर अध्ययन-अध्यापन की पारंपरिक व्यवस्था, संस्कृति एवं संरचना के बरकरार रहते नई तरह की पाठ्यपुस्तकों के आ जाने से यह पाठ्यपुस्तकें उनको अटपटी और कुछ हद तक गैर-व्यावहारिक एवं असंभव सी लग रही हों तो ऐसे में यह निष्कर्ष निकालना कि किताबें खराब हैं एक, वैध निष्कर्ष नहीं हो सकता है।

चूंकि स्कूल की इतिहास की पाठ्यपुस्तकें बच्चों के लिए तथा किशोरों के लिए हैं इसलिए यह स्वाभाविक ही अपेक्षा बनती है कि इन किताबों में बच्चों के इतिहास के संबंध में कुछ चर्चा-विवरण हों हालांकि पाठ्यपुस्तकों का इतिहास यह बतलाता है कि आमतौर पर इतिहास की किताबों से बच्चे एवं किशोर नदारद ही रहते आए हैं। सिंह, अजय कुमार (2007) ने अपनी पुस्तक में इतिहास की पाठ्यपुस्तकों, पाठ्यचर्याओं तथा पाठ्यक्रमों पर चलने वाले विमर्श तथा स्वयं इतिहास की सन् 1988 की पाठ्यपुस्तकों (एनसीईआरटी) के गहन विश्लेषण के आधार पर यह स्थापित किया है कि इनमें बचपन का इतिहास तथा इतिहास में उसकी उपस्थिति लगभग नदारद है। लेखक की स्थापना है कि स्कूली पाठ्यचर्या, पाठ्यक्रम तथा पाठ्यपुस्तकों पर पिछले एक दशक में जो विमर्श चला वह वयस्क संसार से भरा हुआ है तथा इतिहास की पाठ्यपुस्तकों में वयस्क दुनिया का ही वर्चस्व कायम किया गया है। लेखक ने एनसीईआरटी के कक्षा 6, 7 और 8 की इतिहास की पाठ्यपुस्तकों (थापर रोमिला : 1988; देव, अर्जुन : 1988) के विश्लेषण से इसे स्थापित किया है। इस लिहाज से अगर इतिहास की 2006-07 की पाठ्यपुस्तकों का विश्लेषण करने पर उत्साहजनक स्थिति नहीं बनती। कक्षा 10 की पाठ्यपुस्तक में एक जगह पर जरूर स्कूल को विषय बनाया गया है। इसमें संवेदनशील तरीके से वियतनामी बच्चों के साथ फ्रांसीसियों का विभेदकारी अपमानजनक अमानवीय व्यवहार को दर्शाया गया है और इसका वियतनामी शिक्षार्थियों के द्वारा सशक्त विरोध भी दर्शाया गया है। इसके अलावा कुछ छिटपुट उपस्थिति कक्षा 9 की पाठ्यपुस्तक में भी दिखलाई गई है। मसलन नात्सी जर्मनी में यहूदी बच्चों के साथ भेदभाव तथा नात्सी विचारधारा का बच्चों पर मतारोपण के प्रसंग। पर कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि इन पुस्तकों में बच्चों का इतिहास नदारद है। बच्चों के बारे में वयस्कों की सोच, समय-समय पर इस सोच में आए बदलाव, उनके खेलने के तौर-तरीके, उनके पोशाक, उनके विद्यालय और किताबें, उनको मिलने वाली सुख-सुविधाएं, उन पर किए जाने वाले वयस्क संसार की हिंसा, इन सभी को पाठ्यपुस्तक का हिस्सा बनाया जाना चाहिए था। आखिर इन पाठ्यपुस्तकों से इनके पाठक वर्ग की समूची दुनिया के नदारद होने को कैसे जायज ठहराया जा सकता है जबकि पाठ्यचर्या 2005 बाल केन्द्रित शिक्षा को धुरी मानकर चलती है और जबकि पाठ्यपुस्तकें यह दावा करती हों कि उन्होंने पाठ्यपुस्तकों की रचना में इसका पूरा-पूरा ध्यान रखा है। ◆